Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies,
Online ISSN 2278-8808, SJIF 2016 = 6.17, www.srjis.com
UGC Approved Sr. No.49366, SEPT-OCT 2017, VOL- 4/36

साठोत्तरी कविता में परिवर्तन के स्वर

संध्या गर्ग, Ph. D.

एसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी–विभाग), जानकी देवी मेमोरियल कॉलेज

Abstract

कविता अपने युग का भावात्मक दस्तावेज है। वह अपने परिवेश, समाज और युग चेतना से प्रभावित होती है और प्रभावित करती है। काव्य, विचार पक्ष के स्थान पर भावों का सहज उच्छलन होता है। इसीलिए उसे भावात्मक दस्तावेज कहना उचित है। हिन्दी काव्य–इतिहास पर दृष्टि डालें तो आदिकाल से रीतिकाल तक जितने कलेवर कविता ने बदले हैं, उससे कहीं अधिक केवल आधुनिक युग में ही दिखाई देते हैं। स्वतन्त्रता के बाद कविता में विभिन्न वादों और आन्दोलनों को लक्ष्य करते हुए अज्ञेय ने लिखा – "इस काल की कविताओं को बहुत सतही नज़र से देखने पर लग सकता है कि नयी कविता, टटकी कविता, ताज़ी कविता, अकविता, प्रति कविता, ठोस और ठस्स कविता –सब अलग–अलग आन्दोलन हैं। लेकिन ये सब एक ही प्रवृत्ति के अलग–अलग पहलू हैं।" सीमान्तक कविता, सनातन सूर्योदयी नूतन कविता, भूखी पीढ़ी और युयुत्जावादी कविता जैसी कई प्रवृत्तियाँ आईं और चली गयीं। ये सब अपने को अन्य से पृथक साबित करने का प्रयास ही साबित हुईं। इसी क्रम में साठोत्तरी कविता का भी नाम आता है जो कि एक अलग धारा के रूप में काव्य इतिहास में बहुत प्रचलित भी है। प्रस्तुत आलेख में इस कविता में व्यक्त राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन को परिस्थितियों व कवि के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है।

बीजशब्द : *विडम्बना, सन्त्रास, वैयक्तिकता, विरोध, वर्गरहित शोषण रहित समाज, अस्थिरता, अनास्था, भौतिकता, संघर्ष, सापेक्ष मूल्य।*

Scholarly Research Journal's is licensed Based on a work at www.srjis.com

'साठोत्तरी कविता' सन् साठ के दशक में तथा उसके बाद लिखी गई कविता के लिए प्रयुक्त हुआ है। कानपुर से निकलने वाली एक साहित्यिक पत्रिका 'साठोत्तरी कविता' के संपादक सलिल गुप्त ने यह नाम उस काल की कविता को दिया। यह कविता विद्रोह की कविता है। काव्य के काल्पनिक उपमानों से परे यह यथार्थवादी चेतना की पक्षधर है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से जो स्वप्न मन में जागे थे, व्यवस्था उन स्वप्नों को पूरा करते नहीं प्रतीत हो रही थी। सभी असन्तुष्ट थे, सभी के मन में विद्रोह था और साठ के बाद की

Copyright © 2017, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

कविता उस समय के सामान्य जन के मन की अकुलाहट का ही बयान है। यह बदलते मूल्यों की कविता है। कहीं व्यक्ति, समाज से अलग अपनी अस्मिता को खोजता है तो कहीं समाज के लिए प्रतिबद्ध है। राजनैतिक सामाजिक, वैयक्तिक स्थितियों के प्रति एक असन्तोष इस कविता का मुख्य स्वर है। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, मुक्तिबोध, दुष्यन्त कुमार, धूमिल, रघुबीर सहाय, जगदीश चतुर्वेदी, मुद्राराक्षस और कैलाश वाजपेयी साठोत्तरी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। सभी स्तरों पर बदलते मूल्यों को लेकर इन कवियों के तीखे कथन हैं – "यही शब्द एक किनारे हैं और अर्थ धरती में गड़े हैं/गड़े अर्थ उगेंगे और हवा बदलेगी।" इन कविताओं में तीखा व्यंग्य और विद्रोह मिलता है। अपने स्वप्नों को खण्डित होते देखकर जो निराशा, कुण्ठा और एक उग्र चेतना व्यक्ति में पनपने लगी; उसे ही इन कवियों ने स्वर दिये हैं। फिर भी सभी कुछ कहा नहीं जा सका। श्रीकांत वर्मा ने लिखा है – "सम्भव नहीं है/कविता में वह सब कुछ कह पाना/जो घटा है/बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के साथ/काँपते हैं हाथ।"

सबसे पहले राजनैतिक मूल्यों की बात करें तो सामान्य जन की स्वतन्त्रता के साथ जो आशा, उम्मीद जुड़ी थी उसे कहीं ठेस लगी थी। जनता को प्रतीत हो रहा था कि जिस स्वतन्त्रता का स्वप्न देखकर उसने अपना सर्वस्व दाँव पर लगाया था, वह एक धोखे के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। धूमिल ने लिखा – "न कोई प्रजा है, न कोई तंत्र है/ये आदमी के ख़िलाफ़/आदमी का खुला–सा षड्यंत्र है।" इसी प्रकार सव्यसाची ने भी इस स्वतंत्रता की पोल खोली – "आख़िर क्या दिया है तुमने/आज़ादी के नाम पर/लूप और लाटरी/भूख, आगजनी/रिश्वत, हत्या, लूट, गिरहकटी/काले क़ानून, झूठी अदालतें, बहुरूपिया शासन/अभाव, विवशता।" (सव्यसाची, सुबह होने से पहले)। इन कवियों के मन में इस व्यवस्था के प्रति अस्वीकृति है और यही अस्वीकृति उसके मन में विद्रोह को जन्म देती है। यह विद्रोह तमाम परम्परा के प्रति है उसमें राजनैतिक मान्यताएँ तो हैं ही, सामाजिक, वैचारिक मान्यताओं को बदलाव की बात भी ये कवि करते हैं। नये मूल्यों की स्थापना के संघर्ष के लिए ये तत्पर हैं – "शायद ऐसा ही होता है। इसलिए संभवतः जग में/जब परम्परा का खण्डन कर/कोई नया मूल्य बनता है/लोग उसे मिथ्या कहते हैं/मृत परम्परा के शव से चिपके रहते हैं/थोड़े दिन बाद भावना मर जाती है/या दुर्गन्ध/समूचे युग में भर जाती है" (दुष्यन्त कुमार, एक कण्ठ विषपायी)।

Copyright © 2017, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

परम्परा का यह अस्वीकार उनके मन में प्रश्न भी उठाता है क्योंकि वे स्वयं अपने निर्णय के लिए दुविधा में हैं – "पाप या पुण्य? विद्रोह या विवशता? स्वीकृति या सीमा? क्या लकीरें खींच कर/सब कुछ अस्वीकार कर देना ही जीवन है?" (श्रीहरि दामोदर, लकीरें)। वस्तुतः यह अस्वीकृति पाश्चात्य प्रभाव की भी देन है। दो–दो महायुद्धों के बाद जो मूल्यों का विघटन पश्चिम में दिखता है; सन्त्रास, विसंगति, का भाव व्यक्ति के मन को निराशा से भर देता दिखाई देता है; वही भाव इन कवियों में भी मिलता है। वह कविता से भी विद्रोह कर बैठता है – "इस वक़्त जबकि कान नहीं सुनते है कविताएँ/कविता पेट से सुनी जा रही है/इस वक़्त जबकि कविता मांगती है/समूचा आदमी अपनी ख़ुराक़ के लिये" (धूमिल, संसद से सड़क तक)। नरेश मेहता की कृति 'प्रसाद पर्व' में रामकथा को आधार बनाकर धोबी के कथन पर सीतात्याग की कथा है। धोबी को साधारण जन कहकर उसके विचार को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से जोड़ा गया है। राम कहते हैं – "राज्य, न्याय और राष्ट्र/व्यक्तियों और सम्बन्धों से ऊपर होने ही चाहिएँ/मैं या सीता राष्ट्र हैं?/नहीं/अधिपति होने का अर्थ राजा तो है/पर राष्ट्र नहीं।" –ये पंक्तियाँ उस समय की सत्ता, भाई–भतीजावाद, आभिजात्य और सामान्य वर्ग के लिये अलग–अलग नियमों और क़ानूनों की व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं।

राजनैतिक व्यवस्था के बाद इन कवियों का आक्रोश समाज के बन्धे नियमों के प्रति चित्रित है। समाज का विरोध करते हुए यहाँ कवि व्यक्तिवादी हो चुका है। अज्ञेय ने बहुत समय पहले ही व्यक्ति को 'नदी का द्वीप' कहकर उसकी अस्तित्ववादी चिन्तन को ध्वनि दे दी थी। पर ये कवि समाज से बन्धे रहकर अपने व्यक्तित्व की तलाश करना चाहते हैं – "अब तुम्हारी कोई पृथक इयता नहीं/अब केवल आग है/सबसे मिलकर एक आग/पहचान सकते हो/उनको, जिनसे वह उत्पन्न हुई/या उनको, जिनसे वह फैलेगी" (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, जंगल का दर्द)। सामाजिक मान्यताओं और रीतियों के प्रति इन कवियों में सन्देह की भावना है – "मेरा विवाह किसी स्त्री से नहीं/बल्कि हुआ था ज़माने की पसन्द से/मुझे न औरतों से प्रेम है/न अपने से" (श्रीकांत वर्मा, जलता घर)। ये कवि समाज की पहचान अपने से चाहते हैं, न कि अपनी पहचान समाज से। यदि ऐसा नहीं है तो इनकी दृष्टि में व्यक्ति मृतात्मा है – "गहन मृतात्माएँ इसी नगर को/हर रात जुलूस में

Copyright © 2017, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

चलती/परन्तु दिन में/बैठती है मिल कर करती हुई षड्यंत्र" (मुक्तिबोध, चांद का मुँह टेढ़ा है)।

यदि मुक्तिबोध की ही बात करें तो उनकी कविता वर्गरहित और शोषण रहित समाज की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध दिखाई देती है। कवि इसके लिए प्रतीक्षारत नहीं रहना चाहता, वह स्वयं पहला क़दम बढ़ा कर इस क्रान्ति की मशाल को उठाने के लिए तत्पर है। इस कवि को सभी पूंजीवादी सुविधावादी मनुष्य अपनी राह की बाधा लगते हैं। शासक–शासित, शोषक–शोषित, धनी–निर्धन, समर्थ–असमर्थ का भेद इस शोषण मुक्त समाज की सबसे बड़ी बाधा है। कवि का मन सौंदर्य, ऐश्वर्य पर नहीं रीझता, बल्कि – "उन पर प्यार आता है कि जिनका तप्त मुख/सँवला रहा है/धूम लहरों में/कि जो मानव भविष्यत युद्ध में रत है/जगत् की स्याह सडकों पर" (मुक्तिबोध, चांद का मुँह टेढ़ा है)। मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' इस पूंजीवादी शोषण और षड्यंत्र के चक्रव्यूह में फँसे मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग की फंतासी का चित्रण करती है। यह वर्ग सोचता है कि वह क्रान्ति कर रहा है। चाहे वह वैचारिक स्तर पर ही क्यों न हो। पर अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि पूंजीवाद को समाज से हटाना असम्भव है।

इस कविता का एक महत्त्वपूर्ण चिन्तन विषय मानवीय सम्बन्धों की रिक्तता है। इन सम्बन्धों के अपरिचित चेहरे इन कवियों की व्याकुलता का कारण है। पहले स्वतन्त्रता के स्वप्न से मोहभंग फिर चीन–भारत युद्ध और राजनैतिक अस्थिता ने इस कवि को अहंवादी बना दिया, जो कि समाज के आवरण में लिपटा तो है पर अपने लिए अनेक प्रश्नों से भरा – "मैं वह क्यों नहीं हुआ/जिसने हिम–शिखरों की रक्षा में पहला आघात सहा/मैं वह क्यों नहीं हुआ/जिसके घायल तन से/चांदी चट्टानों पर/किसी गर्म सोते–सा रक्त बहा" (जगदीश गुप्त, हिम बिद्ध)। कवि को लगता है कि उसके आत्मीय सम्बन्ध मन को भिगोते नहीं, बल्कि औपचारिकता का निर्वाह करते हैं। शहर में जितने अधिक मकान बन रहे हैं, लोगों के पास रहने का स्थान नहीं बचा पर फिर भी लोग अकेले हैं, भयमुक्त नहीं हैं। किसी को पुकारने का न तो मन है, न साहस। विपत्ति के क्षणों में कोई दिखाई नहीं देता – "सिकुड़ा हुआ दिन/बेहिसाब चेहरे हैं/बेहिसाब धंधे/और उतने ही देखने वाले दृष्टि के अंधे" (गंगाप्रसाद विमल, विजय)।

Copyright © 2017, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं में भी मानवीय सम्बन्धों की इस रिक्तता और बेरुख़ी का चित्रण हुआ है। व्यावहारिकता और औपचारिकता तो बहुत हो गई है परन्तु मन से प्रेम, सद्भावना समाप्त होते जा रहे हैं। जिस आत्मीयता को भारतीय परिवेश का प्राणतत्त्व कहा जाता रहा, वह कहीं लुप्त है। कोई भी घटना–दुर्घटना मन को बेचैन नहीं करती। सब कुछ अख़बार में पढ़ी ख़बर की तरह दूर की बात है। ऐसे में कवि का उद्देश्य क्या है? उसका कर्त्तव्य क्या कविता लिखना ही है या संवेदना के उस धरातल पर कवि से पहले मानवीय होना आवश्यक है – "एक बूढ़ा आदमी/चल रहा है सड़क पर/बदल दिया है उसका रंग/बत्ती के मटमैले उजाले ने/और कुत्ते उस पर भौंक रहे हैं/जी नहीं होता/इस सबके बीच/लिखते रहने का/कुत्तों को भगाऊँ/जाऊँ/उस बूढ़े आदमी को भीतर बुलाऊँ" (भवानी प्रसाद मिश्र, अंधेरी कविताएँ)।

कविता का विषय बदल रहा था। राष्ट्रभक्ति के बदले राष्ट्र की समस्याएँ, रोज़मर्रा जीवन और मध्यमवर्गीय समाज की पीड़ा भी इन कविताओं का विषय रही था। यही वर्ग है जिसे समाज का भार उठाना है। बदलते नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक मूल्यों की मार मध्यमवर्ग ही सबसे अधिक सहता है। क्योंकि न तो वह पूरा नग्न है और न ही उसके पास अपना ऐब ढकने की सामर्थ्य – "यह ठीक है कि समय/सबको अपने दाँत मार रहा है/लेकिन घाव और पीड़ा का समाज/केवल घरेलू आदमी ढो रहा है" (लीलाधर जगूड़ी, नाटक जारी है)।

गिरिजाकुमार माथुर की कविताओं 'टाइफाइड' और 'क्रॉनिक मरीज' में मध्यमवर्गीय विषमताओं से उत्पन्न तनाव व्यंजित हुआ है। बाह्य संघर्ष और आन्तरिक तनावों में घिरे मध्यमवर्गीय व्यक्ति के पास आत्मविश्वास की कमी है और बाह्य सामाजिक–आर्थिक दबावों ने उसे शारीरिक रूप से भी पंगु बना दिया है – "अपने में लीन, किन्तु आत्मविश्वास हीन/तबीयत है बाँटे पर/दोष सभी रखता है/क़िस्मत के माथे पर" (गिरिजाकुमार माथुर, भीतरी नदी की यात्रा)।

इस सबमें एक निरर्थकता का भाव उसके काव्य पर हावी हो रहा है। उसे प्रतीत होता है कि जैसे रात का अन्धकार सब कुछ को अपने आवरण में ले लेता है, उसी प्रकार उसके परिवेश की निराशा उसे घेर चुकी है – "छोड़ दो सम्पूर्ण प्रेम/त्याग दो सब दया, सब घृणा/ख़त्म हमदर्दी/ख़त्म साथियों का साथ/रात आएगी मून्दने सबको" (शमशेर, कुछ

Copyright © 2017, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

और कविताएँ)। इस दृष्टि से देखें तो वह यथार्थ का ही चित्रण करना चाहता है, चाहे वह नग्न यथार्थ ही क्यों न हो। इस विचार के चलते मूल मानवीय भावों – घृणा, प्रेम, भय, सेक्स, अहम् को भी इन कवियों ने नये ढंग से व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। उसके लिए प्रेम अनिवार्य तो है पर वह इसे खण्डित भी करता है। वह एक निरन्तर खोज है, पूर्ण होने की प्रक्रिया नहीं– "एक सम्पूर्ण होने के पहले ही/गर्भाधान की क्रिया से गुज़रते हुए/उसने जाना कि प्यार/घनी आबादी वाली बस्तियों में/मकान की तलाश है।" (धूमिल, संसद से सड़क तक)। इस कवि में प्रेम का विरोधी भाव घृणा, सामाजिक मूल्यों के प्रति अधिक है। आदर्श की खोज करने वाला व्यक्ति जब उसे पूरे समाज में ही कहीं नहीं पाता तो विद्यमान मूल्यों के प्रति उसमें घृणा जागती है। उसे लगता है कि स्वार्थ, हिंसा, छल समाज का मूल आधार बन चुके हैं। भोगे गये युद्ध और युद्धों के परिणामस्वरूप गिरते समाज के स्तर, व्यक्ति के भीतर उपजी अनास्था, हिंसा, प्रतिशोध ने व्यक्ति को भयभीत कर दिया था। कवि उसे व्यक्त करते हुए लिखता है – "ख़ून से लथपथ है एक देश/एशिया की छाती पर बढ़ रहा नासूर/बेघरबार यतीम बच्चे/बेवाएँ, औरते, स्त्रियाँ/ख़ून के धब्बे/जिस्म के घाव/संगीनों के दाग़" (लक्ष्मीकान्त वर्मा, तीसरा पक्ष)।

साठोत्तरी कविता इसी आस्था–अनास्था के बीच झूलती दिखाई देती है धर्मवीर भारती कृत 'अन्धा युग' के लिए कहा गया कि वह अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा कहने का प्रयास है। यह कृति द्वित्तीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व के विनाश की ओर अग्रसर होने की कथा है। अनास्था और मृत्यु के भय ने व्यक्ति को भौतिकवादी मूल्यों की ओर आकृष्ट किया, जिसके लिए वह अनैतिक कार्यों को करने से भी डरता नहीं है। इस युद्ध के बाद पूरा विश्व कुण्ठा व निराशा से भर गया था, क्योंकि युद्ध में सफलता किसी को नहीं मिली थी। इसी तथ्य को भारत के स्वाधीनता संघर्ष से जोड़कर देखें तो यहाँ डेढ़ सौ वर्षों के स्वाधीनता संघर्ष के बाद जिस सफलता और स्वराज्य की कल्पना समाज ने की थी, वह कहीं दृष्टिगत नहीं हो रहे थे। इस असफलता ने उसे अनास्था से भर दिया। क्रान्ति और त्याग बलिदान सब औचित्यहीन लगने लगे और विद्रोह के भाव से भरा कवि कहने लगा – "क्रान्ति/यहाँ के आसंग लोगों के लिए/किसी अबोध बच्चे के हाथ की/जूजी है" (धूमिल, संसद से सड़क तक)।

Copyright © 2017, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

सन् 1975 की आपात स्थिति में इस विरोध को तीव्रता से अनुभव किया जा सकता है। राजनैतिक दबाव ने स्वतन्त्रता के वास्तविक अर्थ को धूमिल कर दिया था। और इस विरोध ने सत्ता में वर्षों से एकछत्र राज्य करने वाली शासक पार्टी को हटने के लिए विवश कर दिया – "हे ईश्वर! सहा नहीं जाता है/मुझसे अब/औरों की सुविधा से/जीने का ढंग" (श्रीकान्त वर्मा, जलता घर)।

स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी कविता में बदलते समाज के साथ पूंजीवाद के प्रभावस्वरूप सांस्कृतिक मूल्यों के पतन पर भी चिन्ता व्यक्त की गयी है। यह वह समय था, जब पश्चिम के प्रभाव में हम अपनी संस्कृति की पहचान खो रहे थे। बड़ी–बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के ऊँचे वेतन पाने वाले युवाओं के पैरों तले अपनी आंचलिक और देशीय संस्कृति रौंदी जा रही थी। ये कम्पनियाँ कहीं झूठे स्वप्नों की आड़ में युवामन को बरगला रही थीं। अशोक वाजपेयी ने इस संकट की ओर स्पष्ट संकेत किया है – "वे धीरे–धीरे बिना कुछ कहे/हथिया लेंगे तुम्हारी जगह ...../..... वे भागे चले जाएंगे/वे देवदूतों की तरह आएंगे/और नर्क में तुम्हें छोड़कर/अपने स्वर्ग लौट जाएंगे।" यह स्पष्ट है कि देवदूतों के परिवेश में आई इस बाज़ारू प्रवृत्ति ने व्यक्ति का लाभ नहीं सोचा था, बल्कि उसे तो सन्त्रास, कुण्ठा और सम्बन्धों के बिखराव जैसा नर्क ही दे दिया था।

ऐसा नहीं कि यह कविता केवल निराशा की और असंतोष की ही है। वास्तव में व्यक्ति का स्वभाव है थक–हार कर, निराशा में चीखने–चिल्लाने के बाद फिर हिम्मत जुटाकर नये रास्तों की खोज करना। यहाँ वह आस्था की शरण में जाता है क्योंकि उसके पास अन्य कोई विकल्प नहीं है। यही उसका पौरुष भी है। संघर्ष करना उसकी नियति भी है तथा उसका स्वभाव भी। श्रीहरि दामोदर ने लिखा – "अरे, जीवन का अर्थ ही होता है/बीज बनना, बीज बोना/और बीज के समस्त दायित्व का भार–ग्रहण/यही मुक्ति है" (श्रीहरि दामोदर, लकीरें)। कैलाश वाजपेयी, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकान्त देवताले, दुष्यन्त कुमार में आस्था के स्वर सुनाई देते हैं। निराशा और पराजय के बाद जिजीविषा सबसे ऊपर तैरती दिखाई देती है – "चाहता हूँ, धरती के भीतर तक गड़ूँ/फिर आकाश तक डटूँ/ताकि आकाश/धरती के भीतर तक फैलता चला जाए" (अवधेश कुमार, चौथा सप्तक)। यह कवि का आत्मसाक्षात्कार है। डॉ. जगदीश गुप्त के अनुसार – "अपनी पहचान से अलग हो कर जो जितना है, वह उतना ही अर्थहीन है।" वे अस्वीकार नहीं

Copyright © 2017, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

करते कि मूल्य आवश्यक हैं। पर मानव मूल्य और जीवन मूल्यों के द्वंद्व में रहते हुए अपने लिए जीवन मूल्यों को आवश्यक मानते हैं क्योंकि वे प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होते हैं, उसकी स्थितियों, बाहरी दबाव और मानसिक द्वंद्व की उपज होते है। कवि परम्परा को मानता है और परम्परागत मानव मूल्यों को भी। लेकिन साथ ही बदलती दुनिया के साथ नये मूल्यों की स्थापना का भी पक्षधर है – "हर हाथ में/गीली मिट्टी की तरह/हाँ–हाँ मत करो/तनो, अकड़ो/अमरबेलि की तरह मत जियो/जड़ पकडो/बदलो/अपने आपको बदलो/यह दुनिया बदल रही" (धूमिल, संसद से सड़क तक)। वास्तव में इस कविता में सभी स्थितियों में जीने का साहस दिखाई देता है। समाज के प्रत्येक यथार्थ को निर्भीकता से चित्रित करने का साहस और फिर उस यथार्थ को बदलने का साहस भी दृष्टिगत होता है। वह समाज, राजनीति, धर्मभीरुता, परम्परागत मिथकों; सभी को अपनी काव्यधार पर कसता है, सभी को उसका सामना करना है और बचने वाला शेष ही आगे भविष्य में ले कर चलने योग्य है, यह उसकी धारणा है।

इस बदलते हुए परिवेश में व्यक्ति की नियति संघर्ष ही है। भवानी प्रसाद मिश्र लिखते हैं – "यह टूटना बिखरना/कुछ नहीं है/झमेले में पड़ो/जीवन से छवि है। लड़ो!" यदि विचार किया जाए तो यह सनातन व्यक्ति की नियति है तभी परिवर्तन सम्भव है। साठोत्तरी कविता का कवि इसके लिए प्रतिबद्ध दिखाई देता है। मूल्यों का यह बदलाव प्रश्न उठाता है कि कौन–सा मूल्य अधिक सही है। भिन्न समाज के लिए भिन्न मूल्यों की अवधारणा ही सही है अथवा कुछ चिरन्तन मूल्य भी हैं। इन मूल्यों की टकराहट यदि अवश्यम्भावी है, तो इसका परिणाम क्या होना चाहिए? वैयक्तिक सत्ता का बचाव या मनुष्य को मनुष्य बनने की सीख। मनुष्य बनने की यह सीख परिवेश के प्रति जागरूकता से, उसके भग्न होते मूल्यों को तोड़कर, नये मूल्यों के निर्माण से सम्भव है, सापेक्ष मूल्यों के जुड़ाव से सम्भव हैं, कवि का यही कर्म है। केवल साहित्यिक मूल्यों की बात करके कवि होना सिद्ध नहीं होता। टी एस इलियट ने कहा है – "जिसमें जीवन के प्रति दायित्वबोध, सार्थकता और मूल्यों की चिन्ता होगी, वह शुद्ध साहित्यिक मूल्यों की बात न करेगा।"

समाहार : साठोत्तरी कविता इस सिद्धान्त पर चलती है कि केवल कवि कर्म ही नहीं करना चाहिए बल्कि समाज, राजनीति, व्यवस्था, व्यक्ति को बदलने का साहस भी रखना चाहिए। यह कविता समकालीन जीवनबोध को यथार्थ से जोड़ती है। इस कविता के केन्द्र में

Copyright © 2017, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies

विशिष्ट व्यक्ति नहीं है, बल्कि सामान्य व्यक्ति के सुख–दुःख पीड़ा, विसंगति, विडम्बना, कुण्ठा, सन्त्रास को ये कविता स्वर देती है और इन स्थितियों से निकलने की व्याकुलता को चित्रित करते हुए संघर्ष की प्रेरणा भी देती है। अपने समय का सामाजिक, राजनैतिक आर्थिक और सांस्कृतिक परिदृश्य इन कविताओं में व्यक्त हुआ है। यह व्यक्ति, समाज और विश्व के संदर्भ में नये प्रश्नों को उठाती है और यही इस कविता की सार्थकता भी है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1	*तत्पुरुष*	*अशोक वाजपेयी*	*राजकमल प्रकाशन*
2	*संसद से सड़क तक*	*धूमिल*	*राजकमल प्रकाशन*
3	*ऐज क्रिटिक*	*टी एस इलियट*	*कमेन्ट्री नवम्बर 1958*
4	*चांद का मुँह टेढ़ा है*	*मुक्तिबोध*	*राजकमल प्रकाशन*
5	*सुबह होने से पहले*	*सव्यसाची*	
6	*एक कण्ठ विषपायी*	*दुष्यन्त कुमार*	*लोकभारती प्रकाशन*
7	*जलता घर*	*श्रीकान्त वर्मा*	*राजकमल प्रकाशन*
8	*हिम बिद्ध*	*जगदीश गुप्त*	*वसुमति प्रकाशन*
9	*विजय*	*गंगाप्रसाद विमल*	*किताबघर प्रकाशन*
10	*अंधेरी कविताएँ*	*भवानी प्रसाद मिश्र*	*भारतीय ज्ञानपीठ*
11	*नाटक जारी है*	*लीलाधर जगूड़ी*	*अक्षर प्रकाशन*
12	*चौथा सप्तक*	*अवधेश कुमार*	*राजकमल प्रकाशन*
13	*कुछ और कविताएँ*	*शमशेर बहादुर सिंह*	*राधाकृष्ण प्रकाशन*
14	*तीसरा पक्ष*	*लक्ष्मीकान्त वर्मा*	*सचिन प्रकाशन*

Copyright © 2017, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies